

“

पाठ्यपुस्तकों की आलोचना के साथ ही बेहतर पाठ्यपुस्तकों की मांग भारत जैसे लोकतांत्रिक देश में इसलिए उठती रही है क्योंकि आज भी करोड़ों बच्चों को पाठ्यपुस्तकों के अलावा शायद ही कोई पुस्तक पढ़ने को मिलती है। यदि शिक्षा और उसके उपकरण के रूप में पाठ्यपुस्तकें बच्चों के मानस को निर्मित करती हैं तो किसी भी बहुलतावादी-धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र के लिए यह संवेदनशील मुद्दा बन जाता है। यह राजस्थान की पाठ्यपुस्तकों पर आयोजित संगोष्ठी की रिपोर्ट है।

”

ये किताबें बातें नहीं करतीं। ये ‘पाठ्यपुस्तकें’ हैं!

नवनीत बेदार

“किताबें/करती हैं बातें

बीते जमानों की

दुनिया की, इंसानों की

आज की, कल की

एक एक पल की।”

सफदर हाशमी की कविता की ये बात शायद ही कोई व्यक्ति न समझ पाए। लेकिन अगर कविता की इस लाइन को राजस्थान की ‘पाठ्यपुस्तकों’ का संदर्भ लेकर पढ़ें, तो... शायद इस पंक्ति को समझना ज्यादा कठिन लगने लगेगा।

शिक्षा में किताब का एक महत्त्व तो होता ही है इसीलिए हमारे सुधी विचारकों ने स्कूली किताबों को ‘पाठ्यपुस्तक’ की संज्ञा दी है। मानो बाकी की पुस्तकें तो पाठ्य हैं ही नहीं। खैर! इसके अलावा इन पुस्तकों को महत्त्व देने के लिए कुछ सालों के अन्तराल पर इन्हें बदलते (परिवर्धित) भी रहना पड़ता है। कभी-कभी चर्चा में आना या लाना भी इनको महत्त्व देना ही है। सो ये तो तय हुआ कि स्कूलों में बच्चों के लिए जो किताबें पढ़ने-पढ़ाने के काम में आती हैं, वे महत्त्वपूर्ण तो हैं।

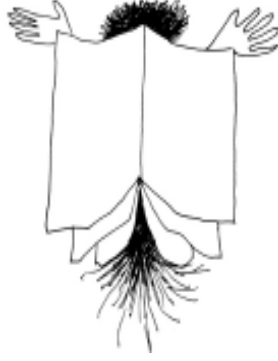
लेकिन इन किताबों का महत्त्व कुछ और वजहों से भी होता है जो शायद शिक्षा की दृष्टि से ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। पहला, किताबें शिक्षण को वह आधार प्रदान करती हैं जिन पर कक्षा-कक्ष में बच्चे के साथ काम करके बच्चों के ज्ञान निर्माण की प्रक्रिया में शिक्षक अपना सहयोग देता है। दूसरा, किताबें बच्चों को अपने परिवेश और उसके बाहर की उस दुनिया से जोड़ती हैं जिन तक उनकी सीधी पहुंच आमतौर पर संभव नहीं होती। तीसरे, बच्चे के लिए किताबें ही वह दोस्त बनती हैं जिससे वह सीधे संवाद स्थापित करता है और अपने भीतर चिन्तन की प्रक्रिया को मजबूत करता है। कल्पना कीजिए कि ये आधार ही खोखला, विद्रूप और विवेकहीनता से भरा हुआ हो तो इस आधार पर होने वाली ‘शिक्षा’ का स्वरूप क्या होगा ?

लेखक परिचय : जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय से हिन्दी में पी.एच.डी., कुछ लेख- हंस, बहुवचन कथादेश, इन्द्रप्रस्थ भारती आदि में प्रकाशित, संप्रति : दिगन्तर में कार्यरत।

सम्पर्क : सी-29, रेल्वे कॉलोनी, जगतपुरा, जयपुर-25 राजस्थान

स्कूली किताबों पर लोगों की चिन्ताओं और सरोकारों को लेकर एक दो दिवसीय संगोष्ठी जयपुर में आयोजित की गई। इसके आयोजकों की एक दूसरी बड़ी चिन्ता शिक्षा के अधिकार बिल को लेकर थी जो पिछले कई सालों से लटका पड़ा है। इस संगोष्ठी का आयोजन कई

संस्थाओं ने मिलकर किया था। संगोष्ठी में पहला दिन राजस्थान की पाठ्यपुस्तकों की अर्थवत्ता और समीक्षा पर केंद्रित रहा। पहले दिन इस समस्या को रेखांकित करते हुए रोहित धनकर ने बताया कि वर्तमान में राजस्थान के स्कूलों में चल रही किताबों के साथ चार तरह की दिक्कतें हैं। पहली दिक्कत ये है कि इन किताबों में भारतीय संस्कृति की जो छवि उभरती है वह हिन्दू संस्कृति की पर्याय है। भारतीय संवैधानिक स्थिति इसके ठीक विपरीत है और वहां इसको एक मिली-जुली संस्कृति के रूप में देखा



जाता है। दूसरे, इन किताबों में विचारशीलता का गहरा अभाव है और इन किताबों में संकलित सामग्री अतीतानुमुखी है। तीसरे, इन किताबों में मानवीय ज्ञान के बारे में जो समझ है वह अधकचरी है। चौथे, ये किताबें शिक्षाशास्त्र की दृष्टि से निकृष्ट कोटि की हैं। इनमें जिस शिक्षाशास्त्रीय दृष्टिकोण को अपनाया गया है। वह बीते जमाने की बात हो चुकी है और उन सिद्धान्तों को शिक्षा जगत से बहुत पहले ही तिरोहित किया जा चुका है। इस पद्धति में पढ़ाने के तरीके विचार की ताकत देने के बजाए रटने और आंख मूंदकर अधिकारी विद्वान की बात मान लेने को पूरी तरह से स्थापित कर देते हैं। इससे बच्चे की पाठ्यपुस्तकों पर निर्भरता बढ़ती है और वे स्वतंत्र रूप से सोचने के बजाए पाठ्यपुस्तकों की सामग्री पर ज्यादा निर्भर होने लगते हैं।

रोहित ने जिन चार बातों का आधार लेकर पाठ्यपुस्तकों की समीक्षा की उसके लिए उन्होंने सतर्क उदाहरण भी प्रस्तुत किए। इन किताबों को लेकर अपनी पहली दिक्कत को लेकर उन्होंने कहा कि- 'कक्षा 11 की समाजशास्त्र की पुस्तक 'भारतीय समाज' के पृ. 68 पर लोकमान्य तिलक के उद्धरण का सहारा लेकर बताया गया है कि 'सिन्धु नदी के उद्गम स्थान से लेकर हिन्द महासागर तक संपूर्ण भारतभूमि जिसकी मातृभूमि तथा पवित्र भूमि है, वह हिन्दू कहलाता है और उसका धर्म हिन्दू धर्म अथवा हिन्दुत्व है'। एक अन्य उदाहरण का जिक्र करते हुए बताया- इस पुस्तक के अध्याय-2 'भारतीय समाज' में सिन्धु घाटी सभ्यता से लेकर आज तक भारतीय समाज के विकास पथ को दिखाने की कोशिश की है। इस विकास पथ को मूलतः हिन्दू समाज के 'विकास' पथ के रूप में रखा गया है। जैन, बौद्ध, सिक्ख और ईसाई धर्मों के नाम तो भारतीय समाज की कुछ विकृतियों को दूर करने के रूप में जरूर लिखे हैं, पर इस्लाम के खाते में तो केवल भारतीय समाज को नुकसान पहुंचाने का ही जिक्र है। भारतीय समाज के विकास में इस्लाम के किसी तरह के योगदान को स्वीकार नहीं किया गया है। अनेक उदाहरण देते हुए रोहित ने कहा कि इन किताबों में स्पष्ट रूप से हिन्दू राष्ट्र की विचारधारा के लिए बच्चों को तैयार करने की

कोशिश है। इस देश का संविधान यही कहता है और इसका भविष्य पंथनिरपेक्षता और लोकतांत्रिक व्यवस्था पर ही टिका है। ये किताबें इस आधार को भी कमजोर करने का काम कर रही हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से गलत तथ्य दिए जा रहे हैं और विचार की दृष्टि से संकुचित नजरिया बनाने की कोशिश हो रही है। हमें अधिक व्यापक नजरिए वाली किताबों की जरूरत है जो संपूर्ण भारतीय समाज के मिले-जुले रूप को सही मायने में समझ सकें और बच्चों को सामाजिक विविधता की तस्वीर पेश कर सकें।

अपने दूसरे आधार को लेकर रोहित ने बताया कि ये किताबें बच्चों को सोचने-विचारने और चिन्तन के लिए प्रेरित करने के उद्देश्य से नहीं बल्कि उनमें चुनिन्दा भावनाएं भरने के उद्देश्य से लिखी गई लगती हैं। जबकि आमतौर पर शिक्षा का अर्थ व्यक्ति में सोचने-समझने, उचित-अनुचित का निर्णय कर पाने की काबलियत और अपने कर्तव्यों और अधिकारों के लिए सचेत रहने की क्षमता विकसित माना जाता है लेकिन राजस्थान पाठ्यपुस्तक मण्डल की ये किताबें इसके ठीक विपरीत काम करती हैं। ये किताबें बताए गए को बिना तर्क स्वीकार कर लेने, सोच-विचार और बच्चे की प्रश्नाकुलता को स्थगित करने और तथाकथित 'गौरवमय इतिहास' के समक्ष समर्पण के भाव को बढ़ावा देती हैं। रोहित के अनुसार इन किताबों में 'असल मुद्दा विचारशीलता और विवेकपूर्ण चिन्तन नहीं है, किसी चीज के कारण समझने की कोशिश नहीं है, सच्चाई को जांचना नहीं है। असल मुद्दा श्रद्धा, भक्ति भाव एवं निष्ठा है।

ये सही भी है कि अगर एक बार आपकी निष्ठा बन गई तो बहुत सारी बातें समझने में आपको किसी तर्क के सहारे की जरूरत ही नहीं पड़ेगी। रोहित ने कुछ किताबों के अंश उठाकर बात को इस तरह कहा- 'अगर एक बार भारत माता के प्रति श्रद्धा बन गई तो यह मानने में कोई खास दिक्कत नहीं आएगी कि भारत माता के सपूतों ने शल्यक्रिया का इतना विकास किया था की गणेश के मानव शरीर पर हाथी का सिर जोड़ दिया। भारत माता के वैज्ञानिक सपूतों ने ही विज्ञान के सारे आविष्कार किए, उनको विमान बनाना भी आता था और यहां पर नारियों की पूजा भी होती थी। भारत माता के नाम पर बनाई गई इस अतीत भक्ति को उन 'विदेशी आक्रान्ताओं' के विरुद्ध गुस्से में बहुत आसानी से तब्दील किया जा सकता है जिन्होंने 'गुलामी के काल में भारतीय धर्म और संस्कृति को नष्ट करने का बार-बार प्रयास किया' और 'नारी सम्मान को गहरी चोट पहुंचाई' परिणामस्वरूप 'पवित्रता और शील की रक्षा के लिए सतीप्रथा, बाल विवाह, पर्दा प्रथा एवं कन्या वध जैसी कुप्रथाएं प्रचलित हो गईं।' इस तरह आसानी से ये बात स्थापित हो जाती है कि भारत 'माता' में तो कोई बुराई हो ही नहीं सकती और

आज जो कुछ भी बुराइयां नजर आ रही हैं वे विदेशी या बाहर के लोगों के कारण ही हैं। इस क्रम में किताबों पौराणिक, किंवदंतियों और ऐतिहासिक के भेद को भी भुला देने की चेष्टा की गई है।

अपनी तीसरी कसौटी रोहित किताबों में निहित उस समझ को मानते हैं जिनका सीधा संबंध सीखने-सिखाने की उन शिक्षाशास्त्रीय पद्धतियों और सिद्धान्तों से है जिनके आधार पर पुस्तकों का वर्तमान ढांचा खड़ा किया गया है। ये पद्धतियां और सिद्धान्त इतने पुराने हैं कि ज्ञान के निर्माण के आधुनिक सिद्धान्तों के साथ इनका ड्योढ़ा बिठा पाना किसी समझदार शिक्षाशास्त्री के लिए असंभव काम प्रतीत होगा लेकिन राजस्थान की पाठ्यपुस्तकों में ये ड्योढ़ा कुछ इस कदर जबरदस्ती बिठलाया गया है कि उसमें निकली हुई कीलें और फांसे साफ दिख रही हैं जो जाहिर है कि बच्चों के ही चुभेंगी।

पुरानी समझ के अनुसार बच्चा खाली घड़ा, ब्लैंक स्लेट या गीली मिट्टी की तरह माना जाता रहा है जिसमें शिक्षक का काम उसमें ज्ञान का पानी भरना, ज्ञान लिखना या सुघड़ मूरत बनाना है। मानो बच्चे का अपना कुछ नहीं है जो कुछ है वह सब तो शिक्षक नामी सत्ता के पास सुरक्षित है और उसी की कृपा से ये सारा ज्ञान का व्यापार संभव हो सकेगा। हमारी सांस्कृतिक धरोहर भी इसी भाव की पक्षधर रही है- गुरु गोविन्द दोऊ खड़े... हमारी शिक्षा व्यवस्था अभी भी पांव लगने की संस्कृति का हिस्सा बनना चाहती है। यहां ज्ञान निर्माण में बच्चे की सक्रिय भागीदारी की बात सिरे से नदारद है। शिक्षक के ऊपर ही सारा दारोमदार है। बच्चा अपनी समझ से कुछ सोच-विचार कर सकता है, कल्पना कर कुछ नया गढ़ सकता है, इस संभावना को ही नकारती है शिक्षा की ये पुरातन समझ।

दिल्ली विश्वविद्यालय से आए अपूर्वानन्द ने भी इन किताबों की आलोचना करते हुए कहा कि ये किताबें जिस समझ का निर्माण करती हैं वह एक सुविचारित साजिश की तरह है और उससे गुजरात 2002 जैसे परिणामों की ही अपेक्षा की जा सकती है। बच्चों के मन में जहर घोलने के ये प्रयास एक लोकतंत्रात्मक राज्य में हो रहे हैं, ये बेहद तकलीफदेह तो हैं ही संविधान की आत्मा के खिलाफ एक षड़यंत्र भी हैं। अपूर्वानन्द ने चिंता जताई कि किस प्रकार गुजराती समाज में महीनों तक मुस्लिमों का कल्लेआम होने पर भी हिन्दू समाज ने इसे समझने से इंकार कर दिया और नरेन्द्र मोदी को दो बार सत्ता में चुना। कोई समाज इतना हृदयहीन या असंवेदनशील कैसे हो सकता है ? यह तब समझ में आता है जब हम देखते हैं कि दिमागों का निर्माण करने की प्रक्रिया राज्य के पास होती है और जिसके लिए वह स्कूल/कॉलेज बनाता है, हमारा

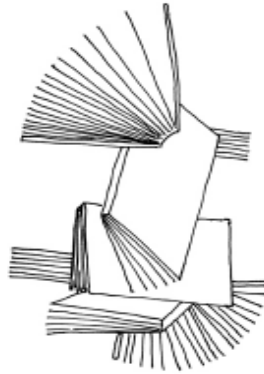
भेदभाव पूर्ण समाज जाति, लिंग, धर्म के तीखे तनाव झेलता है। ऐसे में 'हमारी' संस्कृति की परिभाषा बहुसंख्यकों की होगी या मिली-जुली, यह एक जिम्मेदारी से भरा सवाल है। स्कूल व शिक्षा से उम्मीद है कि बहुत-सी भिन्न पृष्ठभूमि से आने वाले बच्चों को भेदभाव को समझने में मदद कर सके और किसी को नीचा न दिखाए। मध्यान्ह भोजन तक में खाना पकाने व बांटने में दलित उपस्थिति पर विद्रोह हो जाता है।

उन्होंने कहा, यह समझने के लिए पाठ्यपुस्तक एक कसौटी है कि किसी समाज का अपने बच्चों के प्रति क्या रवैया है। क्या समाज बच्चों को दुनिया को समझने व विश्लेषण करने के समृद्ध अवसर देता है ? उनके अनुसार गम्भीर उद्देश्यों को लेने के साथ-साथ पाठ्यपुस्तकें स्थानीय ही होनी चाहिए, जिन पर व्यापक चर्चा, बहस व पारदर्शिता हो, जो सामाजिक बराबरी, धर्मनिरपेक्षता और लोकतंत्र के आदर्शों तथा संवैधानिक सिद्धान्तों पर टिकी हों। हमें बाहुबल पर टिका ताकतवर समाज नहीं वरन संवेदना वाला सुसंस्कृत समाज चाहिए।

अपूर्वानन्द ने कहा कि यदि राज्य खराब पुस्तकें थोपने का संवैधानिक अपराध करता है तो उसे रोकना ही पड़ेगा। यह बहस समाज में खोली जानी चाहिए कि किताबें कैसे बनती हैं। इस प्रक्रिया में राजस्थान से बाहर के शिक्षाविद् भी आने चाहिए ताकि बड़ी संवैधानिक चिंताओं को पाठ्यपुस्तकों में स्थान मिल सके। आज बहुत बड़ी संख्या में अल्पसंख्यक, दलित, आदिवासी बच्चे पहली बार स्कूल आ रहे हैं। हमें देखना है कि वे असफल लोगों की श्रेणी में न ढकेल दिए जाएं। शिक्षाक्रम दस्तावेज पर व्यापक चर्चा करनी होगी जैसे एनसीईआरटी में हुई। यह सरकार की प्राथमिकता इसलिए नहीं है क्योंकि हमारी नहीं है, आदिवासी/दलित/मुस्लिम समूहों की नहीं है।

विद्याभवन सोसाइटी, उदयपुर के सलाहकार हृदयकांत दीवान ने कहा कि राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 के आने के बाद

सभी राज्यों ने अपनी पाठ्यपुस्तकों व पाठ्यचर्या को फिर से देखने की कोशिश की है लेकिन राजस्थान में इस पर किसी भी तरह का पुनर्विचार नहीं हुआ है। हम सभी राष्ट्र व समाज को अलग-अलग बिंबों में देखते हैं। केवल संवैधानिक मूल्य ही एक साझे बिंब का आधार हो सकते हैं। किताबें किसको संबोधित हैं, किसे 'हम' और किन्हें 'अन्य' मानती हैं, ये सरकारों व राजनीति से ज्यादा गहरे सवाल हैं। यह इस नजरिए पर निर्भर करता है कि हम स्कूल को संचित ज्ञान बांटने का औजार मानते हैं या ज्ञान को बदलने का भी। बच्चों के साथ ईमानदारी से सामाजिक



सच्चाइयों को बांटना, उनका खुला विश्लेषण करना तथा शिक्षक की इसके लिए तैयारी, पाठ्यचर्या का हिस्सा होनी चाहिए।

विज्ञान पुस्तकों की समीक्षा करते हुए हृदयकांत दीवान ने कहा कि इन पुस्तकों में विज्ञान केवल जानकारियों का पुलिंदा है जिसे बच्चों को याद करवाना है। वाक्य संरचना, शब्दावली, चित्रों में आम ग्रामीण, गरीब बच्चों, छोटी बस्तियों के बच्चों की कोई झलक नहीं है। प्रयोगों में अवलोकन व निष्कर्ष आपस में तालमेल नहीं रखते जिससे बच्चा अपने पर ही अविश्वास कर लेगा। विज्ञान की पुस्तकों में बेहिसाब तकनीकी, संस्कृतनिष्ठ शब्द हैं और भाषा व डिजाइन अरुचिपूर्ण है। कुल मिलाकर ऐसा लगता है कि विज्ञान सिर्फ याद करने भर के लिए पढ़ाया जा रहा है। समझने, प्रयोग करने, निष्कर्ष निकालने के लिए नहीं।

गणित की पुस्तकों की समीक्षा करते हुए रविकांत ने कहा कि इनमें लंबे-लंबे मशीनी अभ्यासों पर बहुत जोर दिया गया है जो बच्चे के आसपास के संदर्भों से कटे हुए हैं। विषय का प्रस्तुतिकरण दुर्बोध है, आधे-अधूरे निर्देश हैं और चित्रों की बहुत कमी है। समस्या बनाने और सुलझाने, पैटर्नों को समझने, पूर्वानुमान लगाने जैसे कार्य इन पुस्तकों में नहीं हैं जो कि सही मायने में गणित को सीखने-समझने में मदद करते हैं। पहाड़े केवल रटकर लिखे जा सकते हैं, इन्हें समझकर बनाने के कार्य नहीं हैं। सभी किताबों में सामग्री ठूस-ठूस कर भरी गई है।

राजस्थान विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र के प्रोफेसर राजीव गुप्ता ने समाज विज्ञान की पुस्तकों पर निराशा जताते हुए कहा कि इन किताबों को भारत पढ़ता है और इंडिया उससे बाहर रहता है। ये सामंती मूल्यों और ज्ञान पर आधारित पुस्तकें हैं। किताबें उसी के अनुसार तैयार होती हैं जैसा हम समाज बनाना और दिखाना चाहते हैं। वही संदेश शिक्षकों के जरिए बच्चों तक जाता है। हम इनके जरिए कई बच्चों को अलग कर रहे हैं।

विश्वंभर ने एक रोचक टिप्पणी करते हुए कहा कि बच्चों के लिए या परिवारों में पाठ्यपुस्तकों के स्थान और महत्त्व को इसी से आंका जा सकता है कि 'घरों में सबसे पहले रद्दी में बेची जाने वाली पाठ्यपुस्तकें ही होती हैं।' उन्होंने कहा कि यदि शिक्षा का एक वृहत्तर उद्देश्य बच्चों में आलोचनात्मक चिन्तन के विकास को माना जाए तो ये किताबें इस दिशा में किसी भी तरह का सहयोग नहीं करतीं। यदि पाठ्यपुस्तकें बच्चों को सामाजिक यथार्थ के बारे में सोचने को तैयार नहीं करें तो वे निरर्थक हैं। भाषा की किताबों को बच्चों में साहित्य के प्रति रुचि और संवेदनशीलता विकसित करनी चाहिए। ये किताबें वर्तमान समाज को घटिया और अतीत को गौरवाच्चित करती हैं। संत/योगियों/कर्मकाण्ड/मिथक को स्थापित करती हैं। कबीर के उन दोहों को चुना गया है जो आडम्बर या

छुआछूत के खिलाफ आवाज नहीं उठाते। समकालीन साहित्य लेखन इन पुस्तकों से पूरी तरह नदारद है और महिला एवं दलित लेखक नहीं के बराबर हैं। ये किताबें उपदेशात्मक बहुत हैं और बच्चों को आज्ञापालन, गुरुभक्ति, शिष्टाचार सिखाने के लिए उपदेश देती हैं। पूरी किताब में ऐसे ही प्रश्नों को जगह दी गई है जिनके उत्तर पाठ से ज्यों का त्यों उठाकर दिए जा सकते हैं। छपाई, कलापक्ष बहुत ही कमजोर है और वर्तनी की अशुद्धियों की भरमार है तथा भाषा भी एकदम सपाट है।

पूर्वा भारद्वाज ने संस्कृत की पुस्तकों के जरिए राज्य का एक आदर्श नागरिक बनाने के एजेंडा को आगे ले जाने वाली बताया। संस्कृत में नीति श्लोक, सूक्ति, लोक कथाएं व नीति कथाओं की भरमार है जो सुदूर अतीत-वैदिक, ऋषि मुनियों तक जाता है और हिन्दू धार्मिक छवियों, कर्ण, सुश्रुत, दुष्यंत जैसे पात्रों को स्थापित करता है। जेंडर के मसले पर बड़ी उम्र की महिलाओं को पारंपरिक छवि में और लड़कियों को नई भूमिकाओं में दिखाती हैं। ये दिखाना चाहती हैं कि भारतीय समाज में महिलाओं की स्थिति में सारी गड़बड़ी मध्यकाल में हुई।

स्मृति ने 11वीं की पर्यावरण शिक्षा की किताबों की समीक्षा करते हुए इन किताबों को राष्ट्रीय पाठ्यचर्या 2005 के पांच मार्गदर्शन सिद्धान्तों की रोशनी में देखा। उनके अनुसार इन किताबों में रटत हटाने का कोई प्रयास नहीं है, बच्चों को मूक रटंतकर्ता ही बनाना है। निर्धनता को लेकर किसी समाजशास्त्रीय सिद्धान्त जैसे कारणों, प्रभावों आदि में जाने का कोई प्रयास नहीं है। गंदी बस्तियों में रहने वालों का नकारात्मक चित्रण है। ग्यारह प्रश्नों को छोड़ बाकी सबका उत्तर ज्यों का त्यों पाठ में ही है। समीक्षापरक उदार सोच के बजाए संकीर्ण सोच दिखती है। मानव-पर्यावरण संबंध सिर्फ संजीवनी बूटी कथा के रूप में ही हैं।

भारत ज्ञान विज्ञान समिति के राष्ट्रीय अध्यक्ष विनोद रायना ने बताया कि सीएबीई की बैठक में घनश्याम तिवारी ने यह कहते हुए वाक-आउट किया कि हम राष्ट्रीय पाठ्यचर्या 2005 को स्वीकार नहीं करते, हम अपनी किताबें खुद बनाएंगे। इसका विरोध करने के लिए कोई शक्ति नहीं है। किताबों के ऊपर भी कोई नियंत्रक संवैधानिक शक्ति होनी चाहिए। पर असल नियंत्रक आम जन मानस है, जिसे तैयार करना बहुत बड़ा काम है। बहुत से राज्य एनसीईआरटी की किताबें लेकर छाप देते हैं, लेकिन उसमें स्थानीय मुद्दे नहीं आ पाते। दूसरी ओर राज्य की पुस्तक में 'भारतीय' अस्मिता गौण हो जाती है।

हमारी चिन्ता केवल यही है कि इस 'ज्ञान संसार' के आधार पर जिस भावी पीढ़ी के निर्माण की कोशिशें हो रही हैं वे अपने समय में किसका सिर धुनेंगी ? क्योंकि उस वक्त तक इन किताबों के निर्माता लेखक-निर्देशक उनके बीच नहीं रहेंगे। ♦